श्रीमद्भगवद्गीता श्रृंखला : भाग 4

अध्याय 3: कर्मयोग

कर्म की अनिवार्यता, यज्ञ चक्र, लोकसंग्रह और काम पर विजय | कुल श्लोक: 43

श्रीमद्भगवद्गीता का तीसरा अध्याय **'कर्मयोग' (Karmayoga)** सनातन दर्शन का सबसे व्यावहारिक, तार्किक और जीवनोपयोगी खंड है। दूसरे अध्याय (सांख्ययोग) में भगवान श्रीकृष्ण ने एक ओर आत्मज्ञान, प्रज्ञा और समाधि की सर्वोच्च महिमा गाई थी, तो दूसरी ओर अर्जुन को युद्ध रूपी कठोर कर्म करने का आदेश दिया था। एक सामान्य मानव मन जब दो विपरीत लगने वाले सत्यों को सुनता है, तो भ्रमित हो जाता है। अर्जुन भी इसी दुविधा में फंस जाते हैं कि यदि ज्ञान ही कर्म से श्रेष्ठ है, तो फिर परमात्मा उन्हें इस हिंसक युद्ध के कर्म में क्यों धकेल रहे हैं? इसी स्वाभाविक मानवीय जिज्ञासा से तीसरे अध्याय की नींव रखी जाती है।

> **कर्मयोग का शाश्वत सत्य:** संन्यास का अर्थ कर्मों को त्यागना या जिम्मेदारियों से भागकर जंगलों में बैठना नहीं है। संन्यास का वास्तविक अर्थ है कर्म करते हुए उसके फल की लालसा और अहंकार (कर्तृत्व भाव) का त्याग कर देना।

1. अर्जुन की बौद्धिक उलझन: ज्ञान श्रेष्ठ है या कर्म?

अर्जुन कोई अंधभक्त नहीं थे; वे एक प्रखर, तार्किक और विवेकशील शिष्य थे। जब उन्हें लगा कि भगवान की बातें परस्पर विरोधी प्रतीत हो रही हैं, तो उन्होंने बिना संकोच के स्पष्टीकरण माँगा:

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥३.१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥३.२॥

सरल अर्थ: अर्जुन ने कहा — हे जनार्दन! यदि आपके मत में कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, तो हे केशव! फिर आप मुझे इस घोर और हिंसक कर्म में क्यों लगाते हैं? आप अपने मिले-जुले वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित कर रहे हैं। अतः कृपा करके मुझे कोई एक ऐसा निश्चित मार्ग बताइए जिससे मुझे परम कल्याण (श्रेय) की प्राप्ति हो सके।

अर्जुन का यह प्रश्न हर उस व्यक्ति का प्रश्न है जो यह सोचता है कि पूजा-पाठ, ध्यान और दार्शनिक चिंतन ही श्रेष्ठ है और सांसारिक नौकरी, व्यापार तथा जिम्मेदारियां आत्मिक उन्नति में बाधक हैं। श्रीकृष्ण इस भ्रांति का खंडन करते हुए बताते हैं कि विचारशीलों के लिए सांख्य (ज्ञानमार्ग) और कर्मठ लोगों के लिए कर्मयोग अनादि काल से निर्धारित हैं, परंतु लक्ष्य दोनों का एक ही है—चित्त शुद्धि।

2. कर्म की अनिवार्यता: निष्क्रियता केवल एक भ्रम है

मनुष्य अक्सर यह मान बैठता है कि यदि वह कुछ न करे, तो वह कर्म के बंधनों से मुक्त हो जाएगा। श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि अस्तित्व का नियम ही गति और कर्म है। जब तक शरीर है, श्वास लेना, रक्त संचार, सोचना और भोजन करना भी कर्म ही है:

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥३.५॥

सरल अर्थ: कोई भी मनुष्य किसी भी काल में एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण (सत्व, रज, तम) प्रत्येक जीव को विवश करके उससे कर्म करवाते हैं।

मिथ्याचारी (पाखंडी) की पहचान

श्रीकृष्ण श्लोक 3.6 में पाखंड की कड़ी निंदा करते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति अपनी कर्मेंद्रियों (हाथ, पैर आदि) को तो जबरन रोककर बैठ जाता है, परंतु उसका मन निरंतर सांसारिक विषयों, वासनाओं और भोगों का चिंतन करता रहता है, वह मूर्ख **'मिथ्याचारी' (Hypocrite)** कहलाता है। आंतरिक रूप से कामुक रहकर बाहर से सन्यासी का चोला ओढ़ना आध्यात्मिक पतन का सबसे बड़ा कारण है। सच्चा संन्यासी वह है जो संसार में रहते हुए, कर्म करते हुए भी भीतर से निर्लिप्त रहता है।

3. सृष्टि का यज्ञ-चक्र (The Cosmic Ecological Cycle)

गीता में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ केवल हवन कुंड में घी और तिल डालना नहीं है। वैदिक संदर्भ में यज्ञ का अर्थ है—**सृष्टि के कल्याण हेतु अपने स्वार्थ का समर्पण और पारस्परिक सहयोग की भावना**। श्रीकृष्ण बताते हैं कि संपूर्ण ब्रह्मांड एक पारस्परिक निर्भरता (Interdependence) के नियम पर चल रहा है:

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥३.१४॥

सरल अर्थ: संपूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और जीवित रहते हैं; अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है; वर्षा यज्ञ (प्रकृति के संतुलन और कर्तव्य पालन) से होती है; और यज्ञ श्रेष्ठ कर्मों से संपन्न होता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मनुष्य इस समाज और प्रकृति से जल, वायु, भोजन और सुरक्षा तो निरंतर ग्रहण करता है, परंतु बदले में अपने कर्तव्यों का पालन (यज्ञ) नहीं करता, वह केवल अपने पाप का भक्षण करता है। श्लोक 3.12 में ऐसे स्वार्थी मनुष्य को स्पष्ट रूप से **'चोर' (स्तेन एव सः)** की संज्ञा दी गई है।

यज्ञ भाव (Giving Mindset)	भोग भाव (Selfish Consumerism)
प्रकृति और समाज के प्रति कृतज्ञता और सेवा।	केवल अपने लाभ, उपभोग और संचय की चिंता।
कर्म करते हुए दूसरों के कल्याण का ध्यान रखना।	दूसरों के शोषण पर अपनी खुशियाँ तलाशना।
मानसिक शांति, चित्त शुद्धि और मोक्ष।	लोभ, ईर्ष्या, तनाव और पतन (पाप का बंधन)।

4. राजा जनक का उदाहरण और लोकसंग्रह का दायित्व

अर्जुन को यह न लगे कि आत्मज्ञानी बनने के बाद कर्म छूट जाते हैं, इसलिए श्रीकृष्ण विदेह राजा जनक का उदाहरण देते हैं। जनक जैसे परम ज्ञानी राजाओं ने राज्य का संचालन करते हुए, न्याय करते हुए और युद्ध लड़ते हुए भी मोक्ष की सिद्धि प्राप्त की थी:

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३.२०॥

सरल अर्थ: राजा जनक जैसे महापुरुषों ने भी केवल निष्काम कर्म के द्वारा ही परम सिद्धि प्राप्त की थी। इसलिए संसार के मार्गदर्शन और समाज की मर्यादा बनाए रखने (लोकसंग्रह) के लिए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए।

श्रेष्ठ पुरुषों का सामाजिक उत्तरदायित्व

श्रीकृष्ण श्लोक 3.21 में नेतृत्व (Leadership) का सबसे बड़ा नियम प्रतिपादित करते हैं:

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३.२१॥

सरल अर्थ: श्रेष्ठ पुरुष (समाज के मार्गदर्शक व नेता) जैसा-जैसा आचरण करते हैं, सामान्य जन भी वैसा ही आचरण करते हैं। वे जो कुछ मानक स्थापित कर देते हैं, सारा संसार उसी का अनुगमन करने लगता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि तुम समाज के एक शीर्ष योद्धा और आदर्श हो। यदि तुम रणभूमि छोड़कर भागोगे, तो आने वाली पीढ़ियाँ कायरता को ही धर्म मान लेंगी और समाज का अनुशासन छिन्न-भिन्न हो जाएगा। भगवान स्वयं का उदाहरण देकर कहते हैं कि यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी पाना शेष नहीं है, फिर भी मैं लोक-मर्यादा के लिए निरंतर कर्म में प्रवृत्त रहता हूँ।

5. अहंकार और प्रकृति के गुण: वास्तविक कर्ता कौन है?

मनुष्य के दुख का सबसे बड़ा कारण यह भ्रम है कि "यह सब मैंने किया है।" श्रीकृष्ण कर्म के पीछे की वास्तविक व्यवस्था का अनावरण करते हैं:

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥३.२७॥

सरल अर्थ: वास्तव में संपूर्ण कर्म प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा किए जाते हैं; परंतु अहंकार से मोहित अंतःकरण वाला अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान बैठता है।

तत्ववेत्ता (ज्ञानी) यह जानता है कि इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों में बरत रही हैं (गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते)। वह साक्षी भाव में रहता है, इसलिए कर्म करते हुए भी कभी पाप या पुण्य के बंधनों में नहीं बंधता।

6. स्वधर्म की सर्वोच्चता: अपनी प्रकृति का आदर

अक्सर लोग दूसरों की सफलता, रुतबे या धन को देखकर अपने स्वाभाविक मार्ग को छोड़कर दूसरों की नकल करने लगते हैं। श्रीकृष्ण इस मानसिक भटकाव पर कठोर चेतावनी देते हैं:

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३.३५॥

सरल अर्थ: अच्छी प्रकार आचरण में लाए हुए दूसरे के धर्म (कर्तव्य) की अपेक्षा गुणों से रहित दिखने वाला अपना स्वाभाविक धर्म (स्वधर्म) अत्यंत श्रेष्ठ है। अपने स्वधर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी कल्याणकारी है, परंतु दूसरे का धर्म भय और पतन को देने वाला है।

यहाँ 'स्वधर्म' का अर्थ केवल जाति नहीं, बल्कि व्यक्ति का आंतरिक स्वभाव (Psychological DNA), उसकी जन्मजात प्रतिभा और क्षमता है। अर्जुन एक क्षत्रिय थे, जिनका स्वभाव पराक्रम, शासन और न्याय की रक्षा करना था। भिक्षा मांगना (ब्राह्मण का आचरण) उनके स्वभाव के विपरीत था। यदि वे युद्ध छोड़कर सन्यासी बनते, तो वे कभी सफल नहीं होते।

7. आंतरिक महाशत्रु: काम और क्रोध की उत्पत्ति

श्लोक 36 में अर्जुन एक अत्यंत मार्मिक प्रश्न करते हैं: "हे कृष्ण! मनुष्य न चाहते हुए भी, किसी बलवान शक्ति द्वारा जबरन घसीटे जाने की तरह पाप कर्म क्यों कर बैठता है?"

भगवान श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसके बाहर नहीं, बल्कि उसके भीतर बैठा है:

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३.३७॥

सरल अर्थ: श्रीकृष्ण बोले — रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह काम (अनियंत्रित इच्छा/वासना) ही क्रोध का रूप लेता है। यह कभी तृप्त न होने वाला और महापापी है; इसे ही तुम इस संसार में अपना सबसे बड़ा वैरी (शत्रु) जानो।

जैसे धुएं से अग्नि, धूल की परत से दर्पण और जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही इस काम वासना से मनुष्य का सारा आत्मज्ञान और विवेक ढँक जाता है। यह शत्रु मनुष्य की **इंद्रियों, मन और बुद्धि** में अपना दुर्ग बनाकर बैठता है और ज्ञान को नष्ट करके उसे भ्रमित करता है।

8. काम पर विजय: चेतना का आंतरिक पदानुक्रम

इस महाशत्रु को हराने के लिए श्रीकृष्ण अध्याय के अंत में एक अद्भुत आंतरिक पदानुक्रम (Hierarchy of Self) प्रदान करते हैं:

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥३.४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३.४३॥

सरल अर्थ: स्थूल शरीर से श्रेष्ठ इंद्रियाँ हैं; इंद्रियों से श्रेष्ठ मन है; मन से श्रेष्ठ बुद्धि (विवेक) है; और जो बुद्धि से भी अत्यंत परे है, वह आत्मा है। इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से भी श्रेष्ठ जानकर, शुद्ध बुद्धि द्वारा मन को वश में करते हुए, हे महाबाहु अर्जुन! तुम इस काम रूपी दुर्जेय शत्रु का संहार करो।

स्तर	स्वरूप	नियंत्रण का उपाय
1. इंद्रियाँ (Senses)	बाहरी संसार और भोगों के संपर्क में रहने वाली।	नियम और संयम द्वारा बाहरी भटकाव रोकना।
2. मन (Mind)	संकल्प-विकल्प और भावनाओं का केंद्र।	सकारात्मक विचारों और अभ्यास द्वारा एकाग्र करना।
3. बुद्धि (Intellect)	निर्णय लेने और सही-गलत को परखने वाला विवेक।	शास्त्र और विवेकपूर्ण ज्ञान द्वारा तीक्ष्ण बनाना।
4. आत्मा (The Self)	परम शुद्ध, अचल और सर्वव्यापी साक्षी चेतना।	आत्म-साक्षात्कार और श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पण।

9. आधुनिक जीवन और युवाओं के लिए व्यावहारिक सीख

- **कर्तव्य से पलायन नहीं (No Escapism):** जब भी पढ़ाई, नौकरी या पारिवारिक जिम्मेदारियों में तनाव आए, तो भागने का विचार न करें। यह समझें कि कर्म ही मुक्ति और विकास का एकमात्र साधन है।
- **सोशल मीडिया पर अंधानुकरण बंद करें:** दूसरों की लाइफस्टाइल देखकर खुद को हीन न समझें। अपनी प्राकृतिक क्षमता (स्वधर्म) को पहचानें और उसी में महारत हासिल करें।
- **क्रोध प्रबंधन (Anger Management):** जब भी गुस्सा आए, समझें कि आपकी किसी इच्छा (काम) में बाधा आई है। तुरंत प्रतिक्रिया देने के बजाय साक्षी भाव में आकर शांत हो जाएं।

॥ हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे । हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

Website: soniapanghal.com